गुप्त-युगीन समाज

किसी भी समाज का स्वरूप उसमें प्रचलित धार्मिक आचार-विचारों के अनुसार ही निर्धारित होता है। समाज एवं धर्म का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, क्योंकि समाज की जीवन-धारा धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ही ढाली जाती है। गुप्त-युगीन समाज मूलतः हिन्दू समाज माना जाता है। गुप्त-युगीन शासक हिन्दुत्व के संरक्षक एवं प्रश्रयदाता थे। गुप्त-राजाओं के सहृदय प्रश्रय के परिणामस्वरूप ही समाज की प्रत्येक शिरा एवं धमनी में हिन्दुत्व का रक्त प्रवाहित हो सका था।

गुप्त-युगीन हिन्दू समाज में वैदिक धर्म ने पुनर्जीवन पाया था। वैदिक धर्म के पुनर्गठन का यह परिणाम हुआ कि समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता एवं प्रमुखता पुनर्स्थापित हो गयी। फलस्वरूप गुप्तयुगीन समाज ब्राह्मण-धर्मीय समाज बन गया।

---

1. काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 2।
2. हाजरा, पु० रि० हि० रा० क०, पृ० 5, 174–175, 188।

गुप्त-सम्राट् यद्यपि वैश्य वर्णीय थे, फिर भी उनके संरक्षण में ब्राह्मण-प्रधान समाज ही विकसित हुआ। यह गुप्त-सम्राटों की सहृदयता एवं उदार दृष्टिकोण का बोधक है। ब्राह्मण धर्म को पुनर्प्राणान्वित करने में तद्युगीन साहित्यकारों का भी हाथ है। साहित्यकार बहुत सीमा तक समाज के सर्जक एवं नियन्ता होते हैं। अतः ब्राह्मण स्मृतिकारों, पुराणकारों एवं अन्य सर्जकों के प्रयास से ब्राह्मण-धर्म पुनः समाज पर आच्छादित हो सका। गुप्त-युगीन समाज में अनेक परिवर्तन घटित हुए। यहाँ हम सामाजिक व्यवस्था पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालेंगे.

(अ) वर्ण-व्यवस्था

वैदिक धर्म के पुनर्स्थापन ने वर्ण-व्यवस्था की महत्ता पुनः प्रतिष्ठित की। प्रत्येक व्यक्ति वर्ण-धर्मानुसार कार्यनिष्ठ हो चला था। गुप्त-सम्राट् भी वर्ण-धर्म की रक्षा करना अपना कर्तव्य मानने लगे थे। गुप्त-काल में वर्ण-धर्म सम्बन्धी निम्नांकित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं :

(1) **कठोर वर्ण-व्यवस्था**—स्मृतिकारों ने कठोर एवं रूढ़िगत वर्ण-व्यवस्था को पुनः सामाजिक संगठन का आधार बनाया था। वर्ण-धर्म सम्बन्धी नियमों में पुनः जटिलता आ गयी थी। ब्राह्मणों ने विलुप्त श्रेष्ठतम स्थिति को पुनः प्राप्त किया। गुप्तकालीन वर्ण-व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ एवं भेद-भावात्मक थी।

चातुर्वर्णों में ब्राह्मण का कार्यक्षेत्र अध्ययन, यजन एवं प्रतिदान तक सीमित था। क्षत्रिय का कार्यक्षेत्र सामरिक क्षेत्र के साथ शासन तक सीमित था। वैश्य आर्थिक पक्ष के कर्णधार थे। शूद्र अवश्य उत्कर्षोन्मुख थे। गुप्त-काल में उच्च त्रिवर्ण की स्थिति वेद-युग के सदृश थी।

(2) **शूद्रों का उत्कर्ष**—गुप्त-युग से पूर्व शूद्रों ने इतनी अधिक श्रेष्ठता कभी नहीं पायी थी। गुप्त-युगीन लेखों में शूद्र वर्ण का संकेत नहीं मिलता है, परन्तु कर-प्रदायक कृषकों एवं कारीगरों के वर्णन का पुनरावर्तन शूद्रों की उत्कृष्ट स्थिति का अवबोधक है। शूद्र का कार्यक्षेत्र अब केवल निकृष्ट कर्मों तक ही सीमित न था, वरन् अब वे विभिन्न धर्मों का अनुशीलन करने लगे थे। नारद एवं बृहस्पति ने शूद्रों को उनके कर्मानुसार तीन भागों में विभक्त कर दिया था :[1]

(क) शूद्र—जो सैन्य कर्म में नियोजित थे। यह श्रेणी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी।
(ख) शूद्र--जो कृषि कर्म में नियोजित थे। यह मध्यम-वर्गीय श्रेणी थी।
(ग) शूद्र—जो कुली आदि का कार्य करते थे। ये निम्नतम श्रेणी के शूद्र थे।[2]

---

1. नारद स्मृति, 5·23; बृहस्पति स्मृति, 15·12–13।
2. वही।

तृतीय श्रेणी मजदूर वर्ग की थी। व्यवसायी एवं समृद्ध किसान दोनों ही बोझा आदि उठाने के लिए एवं शारीरिक श्रम के लिए शूद्रों को नियोजित करते थे। इन मजदूरों को मजदूरी धनराशि में मिलती थी। स्मृतिकारों ने मजदूरों की मजदूरी निश्चित कर रखी थी। याज्ञवल्क्य, नारद एवं कात्यायन के अनुसार कृषक शूद्र को फसल का 1/10, भाग, पशुपालक को मक्खन आदि का 1/10 भाग तथा कुली को बिक्री का 1/10 भाग प्राप्त होना चाहिए।[1] बृहस्पति के अनुसार कृषक मजदूरों की मजदूरी गुप्त-काल के अन्त समय में द्विगुणित कर दी गयी थी।

इस युग में न केवल शूद्र मदूजरों का ही, वरन् स्वतंत्र शूद्र कृषकों का भी अतित्व था। आधी फसल के अधिकार पर शूद्रों को स्वतन्त्र रूप से खेती करने की आज्ञा मिल गयी थी।[2] नरसिंह पुराण में कृषि शूद्र वर्ग का ही कर्म कही गयी है।[3] गुप्तकालीन कृषकों में अधिकांश संख्या शूद्रों की ही थी।

न केवल कृषि वरन् शिल्प भी शूद्रों का मुख्य धन्धा था। बृहस्पति के अनुसार स्वर्ण, रजत, काष्ठ, धागा, पाषाण एवं चर्मादि सम्बन्धी धन्धे शूद्रों के विशेष व्यवसाय थे।[4] माली, धोबी, कुम्हार, जुलाहे, दर्जी, चित्रकार, चर्मकार, काष्ठकार एवं स्वर्णकार सभी शूद्र श्रेणी में समन्वित थे।[5] शूद्र व्यापार भी करने लगे थे।[6] शूद्रों के सहयोग से तद्युगीन व्यापार और भी अधिक फला फूला।[7]

शूद्र वर्ग अभी तक कर-मुक्त था। ये मास में एक दिन राजकीय सेवार्थ कार्य करते। परन्तु गुप्त-युग से कृषक एवं शिल्पी शूद्रों पर कर लगाया जाने लगा था।[8] शूद्र-वर्ण इस युग में पूर्णतः संगठित हो गया था।[9] शूद्र अपनी श्रेणियाँ बनाने लगे

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2·194; नारद स्मृति 6·2–3; कात्यायन स्मृति, श्लोक 656।
2. विष्णुस्मृति, 7·16; याज्ञवल्क्य, 1·166।
3. नरसिंह पुराण, 58·10–15।
4. बृहस्पति स्मृति, 13·33।
5. अमरकोश, 2·10·5-10, 2·10·12–13।
6. याज्ञवल्क्य, 1·120।
7. शर्मा, रामशरण, पो० शू० ए० ई०, पृ० 240, As artisans and traders, the Sudra played an important part in promoting trade and industry which seem to have made great strides during this period.
8. शान्तिपर्व, 88·1–12।
9. अमरकोश, 2·8·18।

थे। ये श्रेणियाँ निर्णय लेने में पूर्ण स्वतंत्र थीं। राजा को श्रेणी का निर्णय स्वीकार करना पड़ता था।[1]

आर्थिक क्षेत्र में अभ्युत्थान के बावजूद, गुप्तकालीन शूद्रों का रहन-सहन अन्य वर्णों की अपेक्षा निम्नतम था। ये सुन्दर आवास में नहीं रह सकते थे। त्रिवर्णों के घरों की अपेक्षा इनके घर अधिक छोटे होते थे।[2] इनका भोजन भी निकृष्ट कोटि का होता था। कभी-कभी मालिक बचा हुआ भोजन भी इन शूद्रों को दे देते थे। ये वस्त्र भी साधारण ही पहनते थे।

किंतु शूद्रों की राजनीतिक स्थिति गुप्त-काल में उच्च हो गयी थी। शान्ति-पर्व में राजा के आठ मंत्रियों में एक शूद्र मंत्री की व्यवस्था का विधान दिया गया है।[3] बृहस्पति शूद्र को गवाह के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं,[4] क्योंकि शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त न था और गवाही के लिये धार्मिक होना जरूरी माना जाता था। शूद्रों के लिये कठोर दण्ड-विधान की व्यवस्था थी। मृत्युदण्ड का अभाव हो गया था, परन्तु गम्भीर अपराधों के लिये शूद्र बुरी तरह से पीटे जाते थे। गुप्त-युगीन शूद्र मात्र आर्थिक क्षेत्र में उत्कृष्टावस्था को प्राप्त हुए थे, परन्तु अन्य क्षेत्रों में उनकी स्थिति निम्नतम ही थी।

(3) **खान-पान में भेद-भाव**—गुप्त-युगीन ब्राह्मण खान-पान में भेद-भाव करते थे। ब्राह्मण लोग क्षत्रियों एवं वैश्यों की अपेक्षा शूद्रों से अधिक भेद-भाव रखते थे। स्मृतिकारों के अनुसार शूद्र का भोजन करने से ब्राह्मण की अध्यात्म शक्ति एवं बुद्धि क्षीण होती है।[5] इसी धारणा से प्रभावित होकर ब्राह्मणों से शूद्रों का सम्बन्ध पूर्णतः कटा हुआ था। शान्ति पर्व में भी बढ़ई, चर्मकार, धोबी एवं रँगरेज आदि के साथ ब्राह्मणों के खान-पान सम्बन्धी निषेधात्मक विधान का वर्णन है।[6] याज्ञवल्क्य के अनुसार स्नातकों को भी शूद्र का भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए,[7] क्योंकि स्नातक (किसी भी वर्ण का हो) ब्राह्मण ही माना जाता है। महाभारत में तो ब्राह्मण द्वारा शूद्र, वैश्य एवं क्षत्रिय का भोजन ग्रहण कर लेने पर, पश्चात्ताप-

---

1. मजूमदार, रमेशचन्द्र, का० ला० ए० इ०, पृ० 62।
2. बृहत्संहिता, 52·12–13।
3. शान्ति पर्व, 85·7–10।
4. बृहत्संहिता, 5·38।
5. बृहस्पति स्मृति, श्राद्ध खण्ड, 43।
6. शान्ति पर्व, 37·22–23।
7. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1·160।

स्वरूप कुछ प्रायश्चित्त-कर्म करने का विधान दिया गया है।[1] भोजन के साथ-साथ शूद्र का जल एवं मदिरापान भी ब्राह्मण के हेतु निषिद्ध था।

(4) **परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध**—सिद्धान्ततः स्मृतिकारों ने जाति-बन्धन कठोर एवं जटिल कर दिये थे। स्मृति-विधानानुसार अन्तर्जातीय विवाह वर्जित थे परन्तु, व्यवहारतः परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होते थे। अधिकांशतः विवाह स्व-वर्ण में ही सम्पन्न किये जाते थे, परन्तु अपवाद-स्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों के प्रमाणों की भी कमी नहीं मिलती है। स्मृतिकारों ने आपद्-स्थिति में अन्तर्वर्णीय विवाह के अनुलोम स्वरूप को ही स्वीकृति प्रदान की थी अर्थात् उच्चवर्णीय पुरुष अपने से एक वर्ण नीचे की कन्या स्वीकार कर सकता है। अनुलोम-विवाह-पद्धति के प्रमाण हमें तद्युगीन अभिलेखों में भी उत्कीर्ण मिलते हैं। अभिलेखों से ही ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-वर्णीय वाकाटक नरेश रुद्रसेन ने वैश्य-वर्णीय कन्या से विवाह किया था। स्मृतिकारों ने अनुलोम-पद्धति से विवाहित पत्नी को यज्ञानुष्ठान में पति के साथ भाग लेने का अधिकार दिया था। परन्तु साथ में एक शर्त भी जोड़ दी थी कि पति की कोई सवर्ण पत्नी नहीं होनी चाहिए। याज्ञवल्क्य आदि कुछ स्मृतिकारों ने प्रतिलोम-विवाह पद्धति को भी मान्यता दी है। याज्ञवल्क्य ने उच्च-वर्णीय पत्नी को समस्त अधिकार प्रदान किये हैं। कादम्ब (ब्राह्मण नरेश) ने अपनी पुत्री का विवाह वैश्य-वर्णीय गुप्त राजा से किया था। मृच्छकटिक नाटक से ज्ञात होता है कि चारुदत्त नामक ब्राह्मण ने वसंतसेना नामक गणिका से विवाह किया था। गुप्त-युगीन नरेशों ने विदेशी कन्याओं को भी पत्नियों के रूप में स्वीकार किया था।

(5) **पर-धर्मानुशीलन**—स्मृतिकारों ने वर्ण-शुद्धि के कारण सदैव स्वधर्मानुशीलन पर ही बल दिया था। वर्ण सम्बन्धी नियमों की कठोरता मात्र सिद्धान्त रूप में ही थी, व्यवहारतः नियम शिथिल एवं उदार थे। नियमों में कठोरता शनैः शनैः आई थी। गुप्त-काल में पर-धर्मानुकरण के अनेक प्रमाण परिलक्षित होते थे। ब्राह्मण योद्धा, ब्राह्मण व्यापारी एवं वैश्य अध्यापक के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। विन्ध्यशक्ति नामक ब्राह्मण ने सामरिक कर्म का वरण किया था एवं वाकाटक वंश की नींव डाली थी। मयूरशर्मन नामक कदम्ब ब्राह्मण ने कदम्ब वंश की स्थापना की थी। स्मृतिकारों ने आपत्काल में एक वर्ण निम्न वर्ण के वरण की अनुमति दे रखी थी, उदाहरणार्थ ब्राह्मण क्षत्रिय कर्म को, क्षत्रिय वैश्य कर्म को एवं वैश्य शूद्र कर्म का वरण कर सकता था।

(6) **उदार वैश्य वर्ग**—गुप्त-युगीन समाज में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण सम्मानजनक स्थान पाये हुए थे। परन्तु सर्वाधिक उत्कृष्ट स्थान वैश्य वर्ग को प्राप्त था।

---

1. अनुशासन पर्व, 136'20'22।

वैश्यों की उत्कृष्टता का कारण उनकी दानशीलता एवं उदार प्रवृत्ति थी। नगरों के समस्त जनहित कार्यों का सम्पादन वैश्य वर्ग ही करता था। फाह्यान के शब्दों में "जनपद के वैश्यों के मुखिया-लोगों ने नगर में सदाव्रत एवं औषधालय स्थापित कर रखे हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसन्तान, लूले, लँगड़े एवं रोगी लोग इस स्थान पर जाते हैं एवं सब प्रकार की सुविधा तथा सहायता प्राप्त करते हैं।"

इस युग में वैश्य वर्ण का महत्त्वपूर्ण स्थान संभवतः इस कारण भी था कि तद्युगीन राजवंश भी वैश्य-वर्णीय था। ब्राह्मण वर्ण यद्यपि स्मृति के विधानानुसार सर्वश्रेष्ठ वर्ण था, परन्तु जीविकोपार्जन के हेतु वैश्यों पर ही आश्रित था। साधारणतः ब्राह्मण वैश्यों के यज्ञों का सम्पादन करके एवं अध्यापन करके जीवन-यापन करते थे। इसके अतिरिक्त वैश्यों के औदार्य का परिचय इस तथ्य से भी प्राप्त होता है कि कितनी सहजता से वैश्यों ने शूद्रों को वैश्य-कर्म करने की आज्ञा दे दी थी। वैश्यों की उदारता के परिणामस्वरूप ही वैश्य एवं शूद्र वर्ण में बहुत कम अन्तर रह गया था।

(7) **अन्त्यज जन**—गुप्त-युगीन समाज में शूद्रों के अलावा अन्त्यज वर्ग का भी अस्तित्व था। यह वर्ग अस्पृश्य था। ये लोग नगर के बाहर रहते थे। फाह्यान के अनुसार जब ये चाण्डाल जन नगर में प्रवेश करते थे तब ढोल बजाते थे ताकि अन्य लोग इनके स्पर्श से बच सकें। यह वर्ग अत्यंत निम्न कोटि का व्यवसाय करता था। इन लोगों के धन्धों में मांस, मच्छ एवं मदिरा आदि के धन्धे प्रमुख थे। स्मृति के अनुसार ऐसे निकृष्ट कार्य करने के अधिकारी चाण्डाल ही थे। शव ढोना, प्राणदण्ड देना एवं शारीरिक ताड़नाएँ देना जैसे घृणित कार्य चाण्डाल लोगों के द्वारा ही कराये जाते थे। 'मृच्छकटिक' नाटक में अन्त्यजों का विशद विवरण प्राप्त होता है। अन्त्यज को स्पर्श करनेवाला व्यक्ति दूषित माना जाता था। ऐसा दूषित व्यक्ति पुनः पवित्र होने के लिए स्मृति-विधानानुसार कुछ प्रायश्चित्त-कर्म करता था।

(8) **व्रात्य वर्ग**—इस युग में भारत को अनेक विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करना पड़ा था; स्वभावतः विदेशी जातियाँ भी भारतीय समाज में प्रविष्ट होने लगी थीं। स्मृतिकारों ने वर्ण-व्यवस्था के प्रति कठोर रुख अपनाने के बावजूद विदेशी जातियों के प्रति अति उदार दृष्टिकोण अपनाया। तद्युगीन समाज में विदेशी जातियों के मिश्रण को रोकना एवं उन्हें पूर्णतः बहिष्कृत करना स्मृतिकारों के लिए असम्भव था। अतः स्मृतिकारों ने विदेशी जातियों को क्षत्रिय मानकर 'व्रात्य' की उपाधि प्रदान की। व्रात्य-वर्ग क्षत्रियों से साम्य अवश्य रखता था, परन्तु पूर्णतः उनके समकक्ष नहीं था।

(आ) उपजातियाँ

आज हिन्दू समाज में जितनी उपजातियाँ वर्तमान हैं, उन सभी का उद्भव उस युग में हो चुका था। गुप्त-युग जातियों एवं उपजातियों के प्रस्फुटन, पल्लवन एवं पूर्ण विकास का युग माना जाता है। इस युग में कुछ ऐसी जातियाँ भी प्रस्फुटित हुईं, जिनका सम्बन्ध किसी वर्ण-विशेष से नहीं था। रथकार, वणिक्, मागध, कर्मकार एवं गोपाल आदि इसी श्रेणी की जातियाँ मानी जाती थीं। कायस्थ उपजाति का उद्भव-काल भी यही युग माना जाता है। कायस्थ जाति अवश्य ही द्विजातियों के मिश्रण का परिणाम थी, किन्तु किन दो जातियों या वर्णों के मिश्रण का फल थी, यह अनिश्चित है। गुप्त-युगीन लेखक वर्ग कायस्थ कहलाता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्र-लेख से यह स्पष्ट होता है कि "प्रथम कायस्थ" ही शासन-कार्य में भाग लेता था। **"प्रथम कायस्थ"** का संकेत इस तथ्य का इंगीकरण है कि कायस्थों का कोई समूह रहा होगा अथवा उनकी जाति या वर्ग रहा होगा। निश्चित रूप से यह कायस्थ जाति का सम्बोधन रहा होगा, किसी विशेष लेखक का नाम या प्रत्यायक नहीं। पुण्ड्रवर्धन कायस्थ जाति का ही था। शूद्रक के अनुसार कायस्थ न्यायालय के लेखक थे। कायस्थ जाति का प्रमुख धन्धा लिपि से सम्बन्धित होता था। शासन सम्बन्धी समस्त लिपिक कायस्थ-वर्णीय ही होते थे।

(इ) दास-प्रथा

स्मृतियों में दासों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। शान्ति पर्व के अनुसार प्रजापति ने शूद्रों को त्रिवर्ण के दास के रूप में जन्म दिया था[1] अतः शूद्र को दास-धर्म का ही वरण करना चाहिए।[2] परन्तु गुप्त-युग में सभी शूद्र दास नहीं थे। गुप्त-युग में दासों की पृथक् रूप से श्रेणी विद्यमान थी एवं दास-प्रथा संस्था के रूप में प्रचलित थी।[3] नारद स्मृति में दासों की पन्द्रह कोटियों का उल्लेख मिलता है।[4] नारद एवं बृहस्पति के अनुसार दासों का धर्म अपवित्र कार्य करना था जैसे, घर, सड़क आदि साफ करना, जूठा भोजन उठाना एवं मालिक के शरीर की मालिश करना आदि।[5] इन कार्यों के अतिरिक्त दास कृषकों के मजदूर एवं कुली के रूप में भी कार्य करते थे।[6]

---

1. शान्ति पर्व, 60·27।
2. अनुशासन पर्व, 208·34।
3. इ० हि० क्वा०, 5·307।
4. नारद स्मृति, 5·26–28।
5. वही, 5·5–7; बृहस्पति स्मृति, 15, 16।
6. नारद स्मृति, 5·23, 25।

गुप्त-काल में दास-प्रथा का चलन अवश्य था, परन्तु दासों के प्रति कठोर व्यवहार नहीं किया जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार किसी व्यक्ति को जबरदस्ती उसकी इच्छा के विरुद्ध दास नहीं बनाना चाहिए।[1] शूद्रों की पत्नियों को भी शक्ति-पूर्वक दास नहीं बनाना चाहिए। तद्युगीन दास या तो स्वेच्छा से बनते थे या कर्ज न चुकाने पर या जुए में हार जाने पर दासत्व स्वीकार करते थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार दास का वर्ण मालिक के वर्ण से एक वर्ण नीचा होना चाहिए।[2] कात्यायन के अनुसार ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णों के व्यक्ति दास बन सकते थे।[3] बाल दास-प्रथा का गुप्त-काल में अभाव था। बालक को बेचना गुप्त-युग में निकृष्ट कर्म माना जाता था।[4]

उस युग में दासों की स्थिति दयनीय तो नहीं थी, फिर भी उत्कृष्ट भी नहीं कही जा सकती। दासों पर विश्वास नहीं किया जाता था। दास-वर्ग छोटे छोटे अपराधों पर भी कठोर दण्ड पाता था।[5] दास-वर्ग कानूनी[6] एवं सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रहते थे,[7] फिर भी गुप्तयुगीन दासों की स्थिति रोम आदि देशों के दासों की अपेक्षा बेहतर थी।

(ई) नारी की स्थिति

गुप्त-युगीन स्त्रियों की दशा पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा दयनीय एवं हीन हो उठी थी। इस संदर्भ में निम्नांकित पक्षों का अवलोकन आवश्यक है :

(1) **विवाह**—गुप्त-युग में विवाह की आयु बहुत कम कर दी गयी थी। बाल-विवाह का चलन काफी हो गया था। स्मृतिकारों के अनुसार पिता को अपनी पुत्री रजस्वला होने से पूर्व ही दान कर देनी चाहिए। यह धारणा गुप्त-युग में प्रबल रूप से व्याप्त थी। रजस्वला पुत्री का कन्यादान पिता को नरकगामी बनाता है, ऐसी गुप्त-युग में मान्यता थी। बाल-विवाह के प्रचलन से इस विवाह के दोष भी समाज में परिलक्षित होने लगे थे। विवाह की उम्र निर्धारित कर देने से गान्धर्व विवाह का चलन बहुत कम हो गया था। फिर भी अपवाद तो होते ही थे।

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2·182।
2. वही, 2·182, 183; नारद स्मृति, 5·39; कात्यायन स्मृति, श्लोक 716।
3. अनुशासन पर्व, 45·23; नारद, 5·154।
4. मृच्छकटिक, पृ० 309।
5. कात्यायन स्मृति, श्लोक 962, 3; मृच्छकटिक, 8·25।
6. कात्यायन स्मृति, श्लोक 92।
7. वही, 724; नारद स्मृति, 5·41।

साधारणतः ब्राह्म विवाह (पिता द्वारा तय किया हुआ विवाह) का ही चलन था। विवाह की उम्र कम कर देने में मूलतः विदेशी आक्रान्ताओं के अनाचार का भय ही निहित था। इसके अतिरिक्त अन्तर्जातीय विवाहों को रोकने के लिए एवं वर्ण की विशुद्धता बनाये रखने के लिए भी बाल-विवाह उपयोगी समझा गया।

(2) **शिक्षा**—बाल-विवाह का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह सम्मुख आया कि शिक्षा-जगत् में नारियाँ पिछड़ने लगीं। स्मृतिकारों ने नारियों को वैदिक शिक्षा से भी वंचित कर दिया था। फिर भी, स्त्रियाँ निरक्षर तो नहीं ही होती थीं। उन्हें लौकिक विषय, ललित कला एवं पाक-विज्ञान आदि सिखाये जाते थे। अनसूया विद्योत्तमा एवं यक्ष की पत्नी आदि समाज की विदुषी नारियाँ मानी जाती थीं। ये विदुषी स्त्रियाँ ललित कलाओं में निपुण एवं लौकिक विषयों की ज्ञाता थीं। साधारणतः स्त्रियाँ सीमित स्तर तक ही शिक्षा पाती थीं। उच्च स्त्री-शिक्षा का अभाव हो चला था।

(3) **पर्दा प्रथा**—गुप्तकालीन स्त्रियाँ यद्यपि स्वतंत्र जीवन जीती थीं, फिर भी उनकी कुछ गति-विधियाँ बन्धनमय थीं। स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक बिना पर्दा किये के घूम फिर सकती थीं। वे व्यवसायी एवं चिकित्सक आदि विशिष्ट पुरुषों से बात कर सकती थीं परन्तु अजनबी व्यक्तियों से अनर्थक वार्तालाप करने का अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं था।[1] पति के साथ पत्नियाँ कहीं भी आ जा सकती थीं। अविवाहित कन्याओं, विधवाओं एवं पति की अनुपस्थिति में पत्नियों पर कुछ बन्धन थे। ऐसी स्त्रियाँ अकेले बाहर नहीं निकलती थीं।[2]

(4) **नर्तकियाँ**—गुप्त-काल में अभिसारिकाओं अथवा नर्तक स्त्रियों का अस्तित्व था। कालिदास के अनुसार नर्तकी कन्याएँ महाकाली के मन्दिर में नृत्य करती थीं।[3] ये यद्यपि वेश्याएँ ही होती थीं, परन्तु ईश्वराराधना में वादन, गायन एव नर्तन आदि भक्ति-भाव से करती थीं। मंदिर के लिये सुन्दर सुन्दर कन्याएँ खरीदी जाती थीं।[4] भविष्य पुराण में वर्णित है कि सूर्य-लोक-विजय का एक मात्र उपाय यही है कि बहुत सी वेश्याओं को सूर्य-मंदिर में समर्पित कर दिया जाय।[5]

---

1. अपरार्क की टीका, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1·83,
   "न पर पुरुषमभिभाषेत् अन्यत्र वणिक्प्रव्रजित वैद्येभ्यः"
2. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1·84, क्रीड़ा शरीर-संस्कारं समाजोत्सव दर्शनम्।
   हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥
3. मेघदूत, 1·35।
4. पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, 52·97।
5. भविष्य पुराण, 1·93·67।

जिन माताओं को सन्तान नहीं होती थी, वे अपना प्रथम बच्चा मंदिर में समर्पित करने की मनौती मानती थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुप्त-काल में नर्तकियों की स्थिति उच्च एवं सम्मानित थी। इनका महत्व विलासिता की दृष्टि से ही नहीं, धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी था।

(5) **स्त्री-धन**—स्त्रियों के आर्थिक अधिकार सीमित थे। पितृकुल में भाई के रहते हुए बहन पितृ-सम्पत्ति की अधिकारणी नहीं हो सकती थी। परन्तु स्मृतिकारों ने ऐसा विधान कर रखा था कि भाई को अपनी सम्पत्ति का चतुर्थ भाग बहन के विवाह में व्यय करना होता था।[1] भाई के अभाव में अवश्य ही कन्या अपने पिता की सम्पत्ति की स्वामिनी होती थी। यदि भाई को अपने पिता से सम्पत्ति प्राप्त न हो, तो भी बहन का विवाह भाई को अपने खर्च से करना होता था।[2]

दहेज में प्राप्त धन पर स्त्री का पूरा अधिकार होता था।[3] मायके से प्राप्त स्त्री-धन का उपभोग पति आपत्काल में कर सकता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार यह धन पति को वापस नहीं करना चाहिए,[4] परन्तु कात्यायन के अनुसार यदि पति ने पत्नी से धन वापस करने का वायदा किया है तो अवश्य वापस कर देना चाहिए।[5] यदि पति वायदा पूरा किए बिना मर जाय तो पुत्र को पिता की बात पूरी करनी चाहिए, ऐसा कात्यायन का विधान था।[6] स्त्री यदि पुत्र एवं पुत्री-विहीना होकर मृत्यु को प्राप्त होती है तो स्त्री-धन पुनः पिता या भाई को प्राप्त हो जाता था।[7] माता की सम्पत्ति के अधिकारी पुत्र एवं पुत्री जीवित रहने पर होते थे। अधिकांशतः माताएँअपना धन अपनी कन्याओं को विवाह में दे देती थीं।

(6) **पुनर्विवाह**—गुप्तयुगीन समाज में पुनर्विवाह का चलन था।[8] पुनर्विवाह के सम्बन्ध में स्मृतिकार एक शर्त यह भी रखते थे कि बाल-विधवा का ही पुनर्विवाह

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, 3·124, असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्व संस्कृतैः।
   भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम्॥
2. नारदस्मृति, 13·34।
3. वही, 3·83, स्त्री धनं न नरेन्द्राणां न कथं च न जीयते।
   अनागमं भुज्यमान वत्स राजां शतैरपि॥
4. याज्ञवल्क्य, 2·147, ····दुर्भिक्षे य व्याधौ सम्प्रति रोधके।
   गृहीतं स्त्रीधनं भर्तृ न स्त्रियै दातुमर्हति॥
5. स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार-खण्ड, पृ० 659।
6. वही, पृ० 658।
7. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2·145, अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्बान्धवादिषु चतुर्ष्वपि।
   दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामी तत्॥
8. नारदस्मृति, 18·28।

हो सकता है। यदि कोई स्त्री पति के रहते दूसरा ब्याह करना चाहे तो यह निषिद्ध था। सिद्धान्ततः वयस्क स्त्री यदि विधवा हो तो उसे पुनर्विवाह नहीं करना चाहिए। परन्तु व्यवहारतः विधवा-विवाह के अनेक प्रमाण मिलते हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ही अपनी विधवा भाभी से विवाह किया था।

(7) सती-प्रथा—गुप्त-काल में सती-प्रथा का अभाव था। स्मृतिकारों द्वारा विधवाओं के नियमों का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि विधवाएँ जीवित रहती थीं। किसी भी स्मृतिकार ने सती-प्रथा का समर्थन नहीं किया है। विष्णु स्मृति में तो स्पष्ट वर्णित है कि कोई भी स्त्री शरीर जलाकर पति की आत्मा से नहीं मिल सकती है।[1] 'कुमारसंभव' नाटक में रति आवेश में जैसे ही सती होने के लिए अग्नि की ओर बढ़ती है, दैवी वाणी उसे रोक लेती है। 'मृच्छकटिक' नाटक में यद्यपि चारुदत्त की पत्नी का आत्मदाह वर्णित है एवं हूण-युद्ध में गोपराजा की मृत्यु होने पर उसकी पत्नी का आत्मदाह चित्रित है, परन्तु आत्मदाह के ये दृष्टान्त सती-प्रथा के परिचायक नहीं हैं। उपर्युक्त आत्मदाह आवेशात्मक थे।

कुछ स्मृतिकारों ने सती-प्रथा पर बल नहीं दिया है। वरन् विधवाओं की इच्छा पर छोड़ दिया है कि या तो वे आत्मदाह करें अथवा साध्वी बनकर जीवन-यापन करें। इस धारणा के समर्थक स्मृतिकार बृहस्पति, पराशर[2] एवं अग्नि पुराण के रचनाकार थे।[3]

विष्णु-स्मृतिकार ने तो विधवा के सम्पत्ति-अधिकार भी वर्णन किया है। उन्होंने विधवा स्त्री को पति की समस्त सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी बताया है।[4] स्मृतिकारों ने नियोग-प्रथा को मान्यता दे रखी थी। यह नियोग-प्रथा एवं पुनर्विवाह की मान्यता का ही परिणाम था कि सती-प्रथा विलुप्तप्राय थी। विधवाओं की दशा उत्कृष्ट थी।

(उ) खान-पान

गुप्त-युगीन समाज में मांसाहार एवं शाकाहार दोनों ही प्रचलित थे।

(1) मांसाहार—फाह्यान ने यद्यपि तद्युगीन समाज में मांस एवं मदिरा के चलन की उपेक्षा की है तथा यह कहा है कि "बाजारों में मांस, मदिरा की

---

1. विष्णु स्मृति, 20·36, मृतोऽपि बान्धवः शक्तितो नानुगन्तुं प्रियं जनम्।
   जायावर्जं हि सर्वस्य याम्यः पन्था विरुध्यते॥
2. पराशर स्मृति, 4·26–8।
3. अग्नि पुराण, 321·23, भर्त्राग्निं या विशेन्नारी सापि स्वर्गमवाप्नुयात्।
4. विष्णुस्मृति, 17·43।

दुकानें नहीं हैं, लोग सुअर और मुर्गियाँ नहीं पालते, प्याज और लहसुन तक नहीं खाते, शराब नहीं पीते, केवल चाण्डाल, जो समाज से बहिष्कृत हैं, वन्य पशुओं का आखेट करते एवं मांस का विक्रय करते हैं।" किन्तु फाह्यान का यह तर्क सर्वमान्य नहीं हो सकता। रतिभानु सिंह नाहर के अनुसार यह तथ्य बौद्ध-धर्म से प्रभावित प्रजा के लिए सत्य हो सकता है, परन्तु बौद्ध प्रजा के लिए भी मांसाहार का निषेध नहीं था। तत्कालीन हिन्दू समाज में मांस, मछली, प्याज एवं लहसुन का बहुत प्रचलन था। कालिदास ने आमिषाहार का पर्याप्त वर्णन किया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में ब्राह्मण द्वारा भूना हुआ मांस खाने का उल्लेख मिलता है। कालिदास के अन्य नाटकों में भी स्त्री एवं पुरुष के द्वारा मांस एवं सुरा के ग्रहण करने का संकेत मिलता है। 'मालविकाग्निमित्र', 'रघुवंश' एवं 'कुमारसंभव' तीनों नाटकों में स्त्री द्वारा सुरा-पान किए जाने के संकेत हैं। कभी-कभी तो स्त्रियाँ बहुत अधिक सुरा-पान कर लेती थीं (मालविकाग्निमित्र)। भोजनोत्सव में खुले आम सुरापान का चलन था। इनके अतिरिक्त कोई भी स्मृतिकार मांस एवं मदिरा-पान का निषेध नहीं करता। हाँ, इनसे सम्बन्धित सीमाएँ अवश्य वर्णित मिलती हैं। स्मृतिकारों के अनुसार प्रोषितपतिकाओं (वे पत्नियाँ जिनके पति विदेश चले गये हैं) को मांसाहार नहीं करना चाहिए। राजघराने के भोजन में मांसाहार की प्रमुखता रहती थी।

(2) **शाकाहार**— साधारण जनता सात्त्विक भोजन ही करती थी। गुप्त-काल में हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान ने आहार को भी प्रभावित किया था। भागवत धर्म एवं महायान शाखा के पूर्ण अभ्युदय ने अहिंसा के परिपालन पर बल दिया था। फल-स्वरूप समाज का एक वर्ग शाकाहारी एवं द्वितीय वर्ग मांसाहारी हो उठा। ब्राह्मण अधिकांशतः शाकाहारी थे। अनाजों में फाह्यान चावल, गेहूँ, जौ, दाल आदि का उल्लेख करता है। इनके अतिरिक्त मक्खन, तेल एवं शक्कर का संकेत भी फाह्यान के वर्णन में मिलता है।

(ऊ) परिधान

सांस्कृतिक उथल-पुथल के इस युग में वस्त्रों की कलात्मकता एवं श्रेष्ठता पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

(1) **वस्त्रों के प्रकार**— तत्कालीन समाज में सूती, रेशमी एवं ऊनी, तीनों प्रकार के वस्त्रों में रेशमी वस्त्रों को सर्वाधिक पसन्द किया जाता था। राजकीय पोशाकें अधिकांशतः रेशम से ही निर्मित होती थीं। रेशम का चीन से आयात किया जाता था। कालिदास ने इस रेशम को 'चीनांशुक' कहा है। कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसोर अभि-

लेख से स्त्रियों में रेशम की लोकप्रियता का पता चलता है।[1] प्रेमियों से मिलने के पूर्व प्रेमिकाएँ अवश्य ही रेशमी वस्त्र धारण करती थीं।

अमरकोष में चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है :

(i) क्षौम—यह दुकूल के समान था तथा विशुद्ध रेशम से बनता था।
(ii) रूई के वस्त्र—ये वस्त्र फल के रेशों से बनाये जाते थे।
(iii) रेशमी वस्त्र—यह कीड़ों के रेशे से बनाये जाते थे।
(iv) ऊनी कपड़े—ये पशुओं के बालों से तैयार किये जाते थे।

वस्त्रों के रँगने का भी चलन था। वराहमिहिर ने 'वज्रलेप' का संकेत किया है। वज्रलेप वस्त्र रँगने का रासायनिक पदार्थ था। वस्त्रों को रँगकर कलात्मक एवं सुन्दर बनाया जाता था।

(2) **पुरुष-वस्त्र**—धोती एवं उत्तरीय पुरुषों का पहनावा था। धोती एवं उत्तरीय गुप्तयुगीन राष्ट्रीय परिधान था, अतः राजा आदि भी यही पोशाक धारण करते थे। यद्यपि विदेशी सीरियनों के सम्पर्क में आने से भारतीय भी कोट-पायजामा आदि सिले वस्त्र पहनने लगे थे, परन्तु विदेशी परिधानों का चलन कम ही था। उष्णीष (पगड़ी) पहनने का भी प्रचलन था। उष्णीष केवल राजघराने के एवं उच्च-स्तरीय जन ही धारण करते थे, साधारण पुरुष पगड़ी नहीं पहनते थे।

(3) **स्त्री-वस्त्र**—नारियों का प्रमुख परिधान साड़ी था। लम्बी साड़ियों से ही पेटीकोट का काम भी लिया जाता था। चोली का भी चलन था। साड़ियाँ रंग-विरंगी होती थीं। साड़ी एवं चोली पहने हुए नारियों के अनेक चित्र अजन्ता एवं बाघ की गुफाओं में चित्रित पाये गये हैं। विदेशी परिधान का प्रयोग अनेक भारतीय स्त्रियाँ भी करने लगी थीं, परन्तु सीरियन परिधान का चलन कम ही था। नाचने-वाली लड़कियाँ कभी-कभी विदेशी वस्त्र धारण करती थीं।

(ऋ) आभूषण

गुप्तकालीन मूर्तियों से तत्कलीन समाज में आभूषण-प्रियता का बोध होता है। स्त्री एवं पुरुष दोनों ही अलंकार धारण करते थे परन्तु स्त्रियाँ आभूषणों की विशेष शौकीन होती थीं। मृच्छकटिक से आभूषण सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। मृच्छकटिक में करधनी, कड़े, अँगूठी, बाजूबन्द (केयूर), पायल आदि स्त्रियों के छह प्रकार के मुख्य गहनों के रूप में वर्णन मिलता है। मणि एवं मोती के हारों का खूब प्रचलन था। राजकीय पुरुष भव्य वेश-भूषा के साथ केयूर (बिजायठ), अंगुलीयक

---

1. तारुण्य कान्त्युपचितोपि सुवर्णहार ताम्बूल पुष्प विधिना सनलंकृतोपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदस्यां यावन्न पट्टमय वस्त्रयुगानि धत्ते॥

(अँगूठी) एवं हार पहनते थे। मेघदूत का यक्ष अपने हाथ में कनक-वलय पहनता था। बृहत्संहिता के अनुसार धार्मिक संस्कार सम्पन्न करते समय प्रत्येक स्त्री-पुरुष को हाथ में आभूषण धारण करना चाहिए। अमरकोष भी आभूषणों के बारे में पर्याप्त ज्ञान देता देता है। पहाड़पुर (राजशाही, बँगला देश) से उपलब्ध मूर्तियों से पुरुषों द्वारा पहने जानेवाले कटिबन्ध एवं उदरबन्ध का आभास मिलता है। अँगूठी प्रेम-प्रतीक आभूषण माना जाता था। प्रेम-प्रतीक होने के कारण ही विवाहोपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त प्रथम ने रानी कुमारदेवी को अँगूठी प्रदान की थी। इस अँगूठी सहित राजा-रानी का चित्र एक मुद्रा पर अंकित है।

गुप्तकाल में सुवर्ण-कला इतनी अधिक विकसित एवं उच्च कोटि की हो चुकी थी कि रत्न-परीक्षा नामक एक वैज्ञानिक शाखा का जन्म गुप्त-काल में हुआ था। इस विज्ञान की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी, ऐसा दिव्यावदान से ज्ञात होता है।

(ऋ) केश-शृंगार

गुप्त-काल में लम्बे केश नारी-सौन्दर्य के बोधक माने जाते थे। स्त्रियाँ पुष्पों के द्वारा केशों को भिन्न-भिन्न रूपों में सजाने में निष्णात् थीं। मेघदूत एवं कुमारसंभव में पुष्प-केश-सज्जा का अति सुन्दर चित्रण मिलता है। बाघ एवं अजन्ता की गुफाओं में चित्रित नारी-चित्रों से हमें तद्युगीन जूड़ों एवं पुष्प-केश-सज्जा के नमूनों का ज्ञान प्राप्त होता है। उस समय कृत्रिम केशों का भी चलन था। गुप्त-युगीन-नारियाँ सौंदर्य-बोध को समझती थीं, तभी वे सौन्दर्य-वृद्धि के लिए नए-नए तरीके खोजती थीं।

शृंगार-शतक एवं ऋतु-संहार से नारियों के विभिन्न प्रसाधनों का ज्ञान प्राप्त होता है। स्त्रियाँ ग्रीष्म ऋतु में सुगन्धित चन्दन का विलेपन करती थीं। प्रत्येक ऋतु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के शृंगारिक प्रसाधनों का नारियाँ प्रयोग करती थीं। नारियाँ ओठों में अलक्तक एवं पैरों में अंगराग लगाती थीं। शृंगार-प्रियता तद्-युगीन नारियों की सौन्दर्यानुभूति की परिचायिका है। यह प्रमाणित करता है कि गुप्त-युग में समाज विलासिता की ओर अग्रसर होने लगा था।

(ए) आमोद-प्रमोद

गुप्तयुगीन समाज भौतिक दृष्टि से भली प्रकार सम्पन्न था। गुप्त-काल के उस भौतिक एवं विलासी समाज में आमोद-प्रमोद के अनेक साधन भली भाँति पनप रहे थे। तद्युगीन समाज में व्यक्ति मनोरंजन को जीवन का महत्त्वपूर्ण एवं अत्यावश्यक अंग मानते थे। जीविकोपार्जन के व्यस्त क्षणों को मनोरंजन द्वारा जीवन्त बनाने के तरीके से तद्युगीन व्यक्ति पूर्णतः अवगत थे। वे मनोरंजन को जीवन-क्षमता एवं कार्य-क्षमता द्विगुणित करने का साधन मानते थे। न केवल राजकीय घरानों एवं उच्चस्तरीय समाज में ही आमोद-प्रमोद का प्रचलन था, वरन् समाज के साधारण

वर्ग भी मनोरंजन के महत्त्व से परिचित थे। ये लोग भी मनोरंजन में कुछ समय व्यतीत करके अपने दैनंदिन जीवन को सरस, सहज एवं जीवन्त बनाते थे। गुप्त-युगीन समाज में आमोद के मुख्यतः निम्नांकित साधन प्रचलित थे :

(1) आखेट—आखेट मुख्यतः राजकीय व्यसन माना जाता था। समस्त गुप्त-सम्राट् मृगया में अनुरक्त प्रकट होते हैं। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर बाघ का शिकार करते हुए सम्राटों के चित्र अंकित हैं। इन सिक्कों पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं कुमारगुप्त की मृगया-मुद्राएँ उल्लेखनीय हैं। ये सिक्के तद्युगीन अभिजात-वर्ग के आखेट-अनुराग के परिचायक हैं। न केवल सम्राट्, वरन् सामन्त एवं सैन्याधिकारी भी यह शौक रखते थे। संभवतः यह जन-साधारण का व्यसन नहीं था।

(2) द्यूत-क्रीड़ा—भारत में द्यूत-क्रीड़ा का चलन वैदिक काल से ही चला आ रहा है। रघुवंश में वर्णित 'दुरोदरं' शब्द गुप्तयुगीन समाज में जुए की लोकप्रियता का परिचायक है। यह समाज के समस्त वर्गों में प्रचलित था। संभवतः यह निम्न एवं साधारण वर्गीय समाज का अति लोकप्रिय मनोरंजन का साधन था।

(3) पशु-युद्ध—पशुओं का परस्पर युद्ध भी तद्युगीन समाज का अति लोकप्रिय मनोरंजन का साधन था। युद्ध करनेवाले पशुओं में भैंसा एवं हाथी प्रमुख थे। युद्ध के निमित्त युद्ध-स्थल (अखाड़े) बने रहते थे। उस युग में पशु-युद्ध का प्रचलन अवश्य था, परन्तु पशु-युद्ध स्पेन आदि देशों के समान अति अमानवीय नहीं होते थे। स्पेन आदि में पशुओं से पुरुष युद्ध करता था, परन्तु भारत में परस्पर पशुओं में ही युद्ध कराने का चलन था। आमोद-प्रमोद के इस साधन में अभिजात एवं साधारण दोनों वर्ग पूर्ण आनन्द लेते थे।

(4) नाटक—नाटक-गृहों का जन्म इसी युग से होता है। नाटकाभिनय की परम्परा का श्रीगणेश गुप्त-युगीन समाज के द्वारा ही हुआ था। गुप्त-युग सांस्कृतिक नाटकों के अभ्युत्थान एवं चरमोत्कर्ष का युग था। कालिदास के समस्त नाटक अभिनय-योग्य हैं। अवश्य ही नाटकों को अभिनीत भी किया जाता होगा। तद्युगीन समाज में प्रेक्षा-गृहों का अस्तित्व था, इसका प्रमाण साहित्य में मिलता है। विशुद्ध संस्कृत नाटकों के प्रति जनसाधारण की अभिरुचि यह सिद्ध करती है कि तत्कालीन समाज में अधिकांशतः बुद्धिजीवी व्यक्ति थे। वे साहित्य एवं कला के प्रति सहज अनुराग रखते थे। तद्युगीन नाटक जहाँ मनोरंजन के उत्कृष्ट साधन थे, वहीं वे समाज में सांस्कृतिक अभिरुचि को भी परिष्कृत करते थे एवं आध्यात्मिकता के दिव्य पक्ष को भी उजागर करते थे। नाटकों का अभिनय नृत्य, वादन एवं गायन के माध्यम से होता था। यूरोप में नाटक तथा अभिनय के क्षेत्र में जो महत्त्व महारानी ऐलिजाबेथ (प्रथम) के युग को प्राप्त था, वही महत्त्व भारत में गुप्त-काल को सुलभ

था। गुप्त सम्राटों एवं नाटककारों द्वारा आविर्भूत नाट्य-परम्परा भारत में आज भी प्रचलित है।

(5) संगीत—तत्कालीन समाज में संगीत को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। संगीत के तीनों अंग—गायन, नर्तन एवं वादन—अति लोकप्रिय थे। संगीत को राज-प्रश्रय सुलभ था। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर वीणा-वादन करते हुए सम्राट् का चित्रांकन तद्युगीन सम्राटों के संगीतानुराग का परिचायक है। गुप्त-समाज में संगीत के प्रति अविरल अनुराग न केवल अभिजात वर्ग में ही व्याप्त था, वरन् जन-साधारण भी समान रूप से संगीत में रुचि लेता था। संगीत तद्युगीन समाज में पूर्ण विकसित कला के रूप में प्रतिष्ठित था। संगीत कला की विधिवत् शिक्षा भी दी जाती थी।

(6) सामाजिक उत्सव—सामाजिक उत्सवों में जनता सामूहिक रूप से संमिलित होती और आनन्द प्राप्त करती थी। किसी पर्व एवं उत्सव के अवसर पर समाज के समस्त वर्ण एवं वर्ग समान रूप से आत्म-विभोर हो उठते थे। सामाजिक उत्सव के अवसर पर ऊँच-नीच, गरीब-अमीर शिक्षित-अशिक्षित एवं ब्राह्मण-शूद्र का भेद-भावात्मक बोध तिरोहित हो जाता था। समस्त व्यक्ति सहयोगी भाव से पर्व में भाग लेते थे। ऐसे सामाजिक उत्सवों में 'रथयात्रा' का विशेष महत्त्व था। फाह्यान के अनुसार—"प्रति वर्ष रथयात्रा का आयोजन किया जाता है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहियों के रथ बनते हैं। यह पूस पर काटी जाती है, जिसमें धुरी तथा हर्से लगे रहते हैं। रथ बीस हाथ ऊँचा और सूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद ऊनी चमकीला कपड़ा मढ़ा जाता है। विविध प्रकार की रँगाई की जाती है। सुवर्ण, रजत एवं स्फटिक की भव्य प्रतिमाएँ निर्मित की जाती हैं, रेशम की पताकाएँ एवं चाँदनी लगाई जाती हैं। चारों कोनों में कलँगियाँ लगी रहती हैं। रथों की संख्या बीस होती है। रथ एक से एक सुन्दर, आकर्षक और भड़कीले होते हैं। निश्चित समय पर निकट के सभी गृहस्थ एवं संन्यासी आकर एकत्र हो जाते हैं। गाने-बजानेवाले भी सम्मिलित होते हैं। एक-एक करके लोग नगर में प्रवेश करते हैं। इस कार्य में दो रातें व्यतीत होती हैं। सारी रात दीपक जला करता है। गाना, बजाना एवं पूजन होता है। प्रत्येक जनपद में ऐसा किया जाता है।" सामाजिक उत्सवों में गृहस्थों के साथ संन्यासी भी भाग लेते थे। जन-साधारण के साथ सम्राट्, सामन्त एवं सैन्याधिकारी भी पर्वों का आनन्द लेते थे। इन पर्वों एवं उत्सवों से सामाजिकता का भाव परिष्कृत होता था। परस्पर मिलने-जुलने एवं आनन्द मनाने से भ्रातृत्व एवं सौहार्द का भाव जागृत होता था। इस प्रकार के सामाजिक उत्सवों से गुप्त-युगीन समाज में एकता एवं संगठन के भाव का संचार होता था और मनोरंजन तो उसका प्रत्यक्ष लाभ था ही।

(7) पासा एवं अन्य क्रीड़ाएँ—उपर्युक्त मनोरंजन के साधनों के अतिरिक्त गुप्तयुगीन व्यक्ति पासा खेलने में भी रुचि रखते थे। यह जन-साधारण का खेल था। कन्दुक क्रीड़ा में अभिजात वर्ग की स्त्रियाँ रुचि लेती थीं। रघुवंश से यह प्रमाणित होता है।

(ऐ) शिक्षा

गुप्त-कालीन समाज पूर्णतः संभ्रान्त एवं सुशिक्षित था। इस युग में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा उठ चुका था। केवल स्त्रियों की शिक्षा अवश्य ही शिथिल हो गयी थी, जिसका मूल कारण बाल-विवाह का प्रचलन था। परन्तु युवकों की शिक्षा पर राज्य एवं समाज द्वारा पूरा ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक बालक एवं युवक को राष्ट्र का उपयोगी अंग माना जाता था एवं उनके वैयक्तिक महत्त्व को समझा जाता था, तभी बालकों के व्यक्तित्व एवं चरित्र के पूर्ण विकास की ओर ध्यान दिया जाता था।

(1) गुरु-शिष्य सम्बन्ध—तद्युगीन शिक्षा-व्यवस्था केवल अध्ययन, अध्यापन एवं शिक्षण विषयों तक ही सीमित नहीं थी, वरन् शिक्षा मूलतः ब्रह्मचर्य जैसे सात्त्विक आचार-नियमों पर आधृत थी। शिक्षक तथा विद्यार्थी के गहरे सम्बन्ध पिता एवं पुत्र तुल्य थे। विद्यार्थी अन्तेवासी, शिष्य एवं ब्रह्मचारी कहलाता था।[1] ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य किसी भी वर्ण का विद्यार्थी वर्ण-विशेष से सम्बोधित नहीं किया जाता था, वरन् सभी छात्र-वर्णी[2] कहलाते थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार प्रत्येक छात्र को वेदाध्ययन करना चाहिए तथा पूर्णतः धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहिए। 12 वर्ष के अध्ययन-काल में विद्यार्थी को पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। 16वें वर्ष में केश उतरवाने चाहिए।[3] छात्र अपने व्यावहारिक जीवन में अपने गुरु के आदर्श एवं आचरण का अनुशीलन करता था। गुरु की सेवा करना शिष्य का परम धर्म होता था।

---

1. अमर कोष, 2·7·11,
   छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये शैक्षाः प्राथमकल्पिकाः।
   एक ब्रह्मव्रताचारासिथः स ब्रह्मचारिणः॥
2. रघुवंश, 5·19, वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुत माचक्षते।
3. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1·36, प्रति वेद ब्रह्मचर्य द्वादशाब्दानि पंच वा।
   ब्राह्मणान्तिक मित्येके केशान्तश्चैव षोडषे॥;
   शान्तिपर्व, अध्याय 242, वेद व्रतोपवासेन चतुर्थे चायुषो गते।
   गुरवे दक्षिणां दत्वा समावर्त्तेद्यथाविधि॥

शिक्षक विद्यार्थियों का गुरु होता था,[1] क्योंकि गुरु बनकर ही शिक्षक विद्यार्थियों के गर्भाधान से लेकर समस्त संस्कार सम्पन्न करवाता था।[2] गुरु ही उपाध्याय[3] एवं प्राचार्य आदि कहलाता था, गुरु बिना शिक्षण-शुल्क लिये विद्यार्थियों को पुत्रवत् शिक्षा देता था। शिक्षा देने में गुरु वर्ण-भेद एवं अमीर-गरीब का भेद नहीं करता था। भेदभाव करनेवाला या शुल्क लेनेवाला गुरु हेय दृष्टि से देखा जाता था तथा वह धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराने का अधिकारी नहीं माना जाता था।[4] गुरु यदि विद्यार्थी से शुल्क ग्रहण करे, तो वह पातकी माना जाता था,[5] अतः गुरु के द्वारा शुल्क-ग्रहण पाप-तुल्य माना जाता था। गुरु विद्वान् एवं प्रकाण्ड पंडित होते थे।

इस प्रकार गुरु पिता के समान समस्त छात्रों को समान भाव से पुत्रवत् शिक्षा देते थे, उनका आचरण उन्नत एवं उत्कृष्ट बनाते थे। गुरु के निःस्वार्थ विद्यादान के बदले में शिष्य को पूर्ण निष्ठा एवं मन से गुरु की सेवा करनी होती थी। न केवल गुरु, वरन् गुरु-पत्नी के प्रति भी समान श्रद्धा-भाव रखना होता था। गुरु-पत्नी के साथ दुर्व्यवहार एवं अभद्र आचरण करनेवाला विद्यार्थी नरक-भागी माना जाता है। ऐसे पापी शिष्य के लिये याज्ञवल्क्य ने कुपरिणाम, गम्भीर दण्ड एवं प्रायश्चित्त की व्यवस्था की थी।[6]

---

1. अमरकोष, 2·7·7, निषेकादिकृद् गुरुः।
2. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1·34, स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
   उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः॥
3. वही, 2·35, एकदेशमुपाध्यायः।
4. विष्णु पुराण, 30·39, यश्च विद्यामासाद्य अस्मिन्लोके तथा सह।
   जीवेन्न सा तस्य फलप्रदा भवेत्॥;
   मालविकाग्निमित्र, 1·17, यस्यागमः केवल जीविकायै तं ज्ञान पण्यं वणिजं वदन्ति।
5. विष्णु स्मृति, 37·18, भृतकाध्यापनम्।; 19, भृताच्चाध्ययनादानम्।; 27, देवर्षिपितृऋणानामनपाक्रिया।;
   याज्ञवल्क्य स्मृति, 3·235।
6. वही, 3·258–259, 280, तल्पेऽऽस्य शयने सार्द्धमाक्रम्या योषिता स्वपेत्।
   गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ नैर्ऋत्याम्वोत्सृजेत्तनुम्॥
   प्रजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समां वा गुरुतल्पगः।
   चन्द्रायणं वात्रीन्मासानभ्यसन् वेद संहिताम्॥
   अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषिताम्।
   गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋत्यं स विशुध्यति॥

(2) **राज्य-संरक्षण**—उपर्युक्त भाग में यह स्पष्ट हो चुका है कि गुरु शुल्क नहीं लेता था। गुरु की इस निःस्वार्थ सेवा के प्रति राज्य एवं समाज के भी कुछ कर्तव्य होते थे। राज्य द्वारा ब्राह्मणों के आवास एवं भोजनादि की व्यवस्था की जाती थी। याज्ञवल्क्य के अनुसार[1] ब्राह्मणों के लिये उचित आवास की व्यवस्था करना राजा का परम धर्म था। तद्युगीन राज्य में ब्राह्मणों की आवास-नगरी 'ब्रह्मपुरी' कहलाती थी। रघुवंश से ज्ञात होता है कि राजा कुश ने समस्त कुशवती नगरी वेदज्ञ ब्राह्मणों को दान कर दी थी।[2] विद्यापीठ के व्यय के लिये राज्य की ओर से अग्रहार-दान (ग्राम-दान) किये जाते थे।

(3) **गुरुकुल-व्यवस्था**—नगर से दूर प्रकृति के आँचल में गुरु के आश्रमों में विद्यार्थी रहते थे। गुरु के व्यक्तिगत सम्पर्क में रहकर विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। नारद स्मृति के अनुसार उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को गुरुकुल में ही गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए[3] एवं शिक्षा में निष्णात् होना चाहिए।

(4) **शिक्षण-विषय**—शिक्षण-विषयों में वेद का मुख्य स्थान था। तद्युगीन विद्यार्थियों की शिक्षा में चतुर्वेद, छह वेदांग, 14 विद्याएँ, पुराण, मीमांसा, न्याय, धर्म, कानून, वैज्ञानिक शिक्षा, शिल्प, व्याकरण, सैन्य प्रशिक्षण, संस्कृति एवं भाषा पर बहुत बल दिया जाता था।

(5) **शिक्षण-पद्धति**—गुप्तयुग में शिक्षण-पद्धति मुख्यतः मौखिक ही थी। यद्यपि लिपि ज्ञान भी कराया जाता था, परन्तु धर्म-ज्ञान मौखिक रूप से ही दिया जाता था। फाह्यान के अनुसार "विद्यार्थियों को अध्यापक के शब्द सुनने, सोचने और समझने पड़ते थे।" फाह्यान ने भारत के समस्त प्रमुख विद्यापीठों का भ्रमण किया था। प्रत्येक विद्यापीठ में फाह्यान ने मौखिक शिक्षण-पद्धति का ही चलन पाया। केवल पाटलिपुत्र के विहार में दो सूत्र एवं अभिधम्म के कुछ अंश उसने लेखबद्ध पाये थे। लेखन-विद्या का प्रचार भी बहुत था। फाह्यान ने भारत में मात्र तीन वर्ष में संस्कृत लिखना एवं पढ़ना सीख लिया था।

---

1. याज्ञवल्क्य संहिता, 2·188।
2. रघुवंश, 16·25, कुशावती श्रोत्रियं सात्कृत्वा यात्राऽनुकूले हनि सावरोधः।
   अनुद्रुतो वायुरिवा भ्रवृन्देः सैन्यैरयोध्याऽभिमुखः प्रतस्थे॥
3. नारदीय स्मृति, 5·15–16, द्वितीयो ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी।
   आचार्यस्य वसेदन्ते कालं कृत्वा सुनिश्चितम॥
   आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहाद्त्त भोजनम्।
   न चान्यत् कारयेत् कर्म पुत्रवच्चौनमाचरेत्॥

(6) प्रतिष्ठित शिक्षण-संस्था—प्रसिद्ध नालन्दा विश्वविद्यालय गुप्त-काल की ही देन था। कुमारगुप्त प्रथम, बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त एवं बालादित्य आदि ने इस विश्वविद्यालय को द्रव्य दान दिए थे। इस विद्यालय की ख्याति वर्धन-काल में चरम सीमा पर पहुँची थी। यह विश्वविद्यालय पाटलिपुत्र में प्रतिष्ठित था।

(7) विद्या का माहात्म्य—गुप्त-काल में अभिजात वर्ग, विद्वद्वर्ग एवं जन-साधारण सभी विद्या के महत्त्व से परिचित थे। व्यास स्मृति के अनुसार वेद-ज्ञान मनुष्य का लोक एवं परलोक उत्कृष्ट बनाता है।[1] वृहस्पति स्मृति के अनुसार विद्या दुःखों से मुक्ति का अमोघ अस्त्र है।[2] इसी कारण विष्णु ने न केवल जन-साधारण के बालकों, वरन् राजकुमारों को भी आवश्यक रूप से स्नातक बनने की राय दी थी।[3] पराशर की दृष्टि में वेद-विद् ब्राह्मण 'ब्रह्म' होता है, अतः उसका नित्य दर्शन करना चाहिए।[4] गुप्तयुगीन समाज में इस विद्या की सुकीर्ति चतुर्दिक् व्याप्त थी। विद्या की मदिर एवं उसके मधुर सुगन्ध से सुवासित तद्युगीन समाज निश्चय ही बौद्धिक उत्कृष्टता का प्रतिमान था। उस बुद्धिजीवी समाज में सभी वर्ग शान्तिमय, सहयोगमय, प्राणमय एवं आनन्दमय जीवन जी रहे थे।

(ओ) उच्च भौतिक एवं नैतिक स्तर का समन्वयात्मक रूप

गुप्तयुगीन समाज की यह सर्वोत्कृष्ट विशेषता रही है कि तद्युगीन समाज ने सम्पदा के मध्य नैतिकता का परित्याग नहीं किया। भौतिकता एवं नैतिकता का अद्भुत सामंजस्य गुप्तयुगीन सभ्यता एवं संस्कृति का अलौकिक पक्ष था।

(1) **अतुल अर्थ का अम्बार**—गुप्त-युग का 'स्वर्णिम युग' नामांकन ही उस युग की समृद्धि का परिचायक है। इस युग में भौतिक समृद्धि चरम शिखर पर थी। विपुल-सम्पदा-सम्पन्न इस समाज ने ही विलासी जीवन का द्वार खोला था। कालिदास के नाटकों में तद्युगीन समाज का विलासी पक्ष हम पूर्णतः मुखरित पाते हैं। 'मृच्छकटिक' नाटक भी तद्युगीन व्यक्तियों की भौतिक दृष्टि का परिचय देता है। 'शिक्षा समुच्चय' में भी गुप्त-कालीन जीवन का विलासितामय पक्ष विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है। गुप्त-कालीन साहित्य में यद्यपि तद्युगीन नगरों एवं नागरिक जीवन

---

1. व्यास स्मृति, 1·36, अनेन विधिनाऽधीतो वेदमन्त्रोद्विजं नयेत्।
2. बृहस्पति स्मृति, 1·79, अधीत्य सर्ववेदान् वै सद्योदुःखात् प्रमुच्यते।
3. विष्णुस्मृति, 63·50–51, बद्ध भारि नृप स्नात स्त्री रोगिवर चक्रिणाम्।
   पन्था देयो नृपस्त्वेषां मान्यः स्नातश्च भूयते॥
4. पराशर स्मृति 11·41, अग्नि चित् कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः।
   दृष्ट मात्रं पुनन्त्येते तस्मात् पश्येत् नित्यशः॥

का वैभव अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से वर्णित है, फिर भी इस अतिशयोक्ति में समाज का रूप अवश्य ही अनावृत होता है, क्योंकि साहित्य सदैव समाज की पृष्ठभूमि में ही जन्म लेता है।

चतुर्थ एवं पंचम शताब्दी का समाज जीवन की समस्त सुविधाओं से सम्पन्न था। इतिहासकार इ० बी० हैवेल ने इस संदर्भ में लिखा है कि "भारत में ब्रिटिश सत्ता के लिए सबसे गौरवमय बात यह होगी कि वह भारतीयों को वे समस्त सुविधाएँ प्रदान करे, जिनका उपभोग भारतीय जनता चौथी एवं पाँचवीं शताब्दी में किया करती थी।" यह कहना आवश्यक है कि तद्युगीन समाज समृद्धि एवं सभ्यता की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था।

(1) **अर्थ एवं काम-का सन्तुलित स्वरूप**—अर्थ एवं काम का बहुत गहरा सम्बन्ध है। न केवल व्यक्ति के जीवन में ही, वरन् राष्ट्र के जीवन में भी अर्थ एवं काम का गहरा सम्बन्ध बहुत महत्त्व रखता है। किसी भी राष्ट्र की अर्थ-विपुलता उस देश की काम-वृत्तियों को द्विगुणित कर सकती है एवं समाज को नैतिक पक्ष से स्खलित कर सकती है। रोम देश के हेलिनिस्टिक युग में अर्थ के अम्बार का ऐसा ही दौर आया था, जब धन के ढेर में रोम का अभिजात-वर्ग कामान्ध हो उठा था। वहाँ आर्थिक समृद्धि ने विलासी, कामुक एवं पाशविक वृत्ति-प्रधान जीवन को जन्म दिया। देश के समस्त कर्णधार विलासिता के मादक क्षणों में चारित्रिक दृढ़ता एवं नैतिक मूल्यों को भूल बैठे थे और अभिजात-वर्ग के इस नैतिक पतन का कुपरिणाम वहाँ की जनता ने दारिद्र्य झेलकर भोगा था।

रोम से भिन्न, भारत ने कभी भी ऐसा असन्तुलित जीवन नहीं जिया। विशेषकर गुप्त-युग में बेशुमार धन की चमक-दमक के मध्य भी भारतीय राजा अनैतिक एवं अशीलवान् नहीं हुए। गुप्त-काल में अभिजात-वर्ग का नैतिक स्तर सदैव सुदृढ़ एवं उच्च रहा। अतीव समृद्धि ने निश्चय ही विलासी जीवन को प्रश्रय दिया था परन्तु तद्युगीन विलासिता भी सन्तुलित एवं स्वस्थ थी। उस विलासी जीवन में 'काम' का पाशविक स्वरूप नहीं उभरा था, वरन् 'काम' का संशोधित अथवा ललित रूप अपने पूर्णत्व में निखरा था। राजाओं की विलासी प्रवृत्ति ने मदिरा एवं नारी की अपेक्षा कला के विभिन्न रूपों में अपनी ऐहिक सिद्धि पायी थी। गुप्तयुगीन ललित कला का उत्कृष्ट रूप तद्युगीन समाज की काम-वृत्ति का ही संशोधित रूप था। समाज के अभिजात एवं धनाढ्य वर्गों ने अपनी विपुल सम्पदा इन्द्रियोपासना में न लगाकर, जनहित के कार्यों एवं कला की उपासना में समर्पित की थी। समासतः गुप्त-युग में धन के अम्बार का उपयोग समाजोत्थान के हेतु किया गया था। उस

समाज की प्रवृत्तियों का यह रूपान्तरित पक्ष ही समाज को स्वस्थ एवं संतुलित बनाये रखने में सहयोगी सिद्ध हुआ।

(3) नैतिक मूल्यों में वृद्धि—धन की विपुलता ने समाज में दानशीलता, परोपकारिता एवं उदारता जैसी महती भावनाओं का संचार किया था। बेईमानी, चोरी एवं अर्थ का असमान वितरण जैसी कटुता-भरी प्रवृत्तियों का उस समाज में अभाव था। धन के अम्बार ने गुप्त-युग में पूँजीवादी प्रवृत्ति की अपेक्षा समाजवादी दृष्टिकोण को विकसित किया। धन की विपुलता में समाज के समस्त वर्ग समान रूप से भागीदार थे। न केवल अभिजात-वर्ग ने, वरन् समाज के समस्त सामान्य वर्गों ने समृद्धि का सुख समान रूप से भोगा था। धन के इस समान वितरण के फलस्वरूप ही समाज में जन-साधारण का नैतिक स्तर सुदृढ़ हो सका था। फाह्यान ने भारतवर्ष में वर्षों भ्रमण किया, पर वह कहीं भी चोरों वा डाकुओं द्वारा लूटा नहीं गया था। फाह्यान ने भारतवासियों के आदर्श एवं दृढ़ चरित्र की बहुत प्रशंसा की थी। गुप्त-युग में न केवल राजकीय वर्ग ही, वरन् समाज के अन्य धनाढ्य वर्ग भी समाज की लोकोपकारी भावना से परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हुए एक दूसरे से आगे बढ़ जाना चाहते थे और प्रतिस्पर्धा की इस भावना के परिणाम-स्वरूप समाज में नित नवीन प्रगति होती रहती थी।

(4) समाज में काम, अर्थ एवं धर्म का संतुलित रूप—गुप्त-युग में अर्थ एवं काम का सन्तुलित एवं स्वस्थ रूप 'धर्म' के कारण ही टिक सका था। गुप्तयुगीन हिन्दू समाज ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म से पूर्णतः प्रभावित था। तद्युगीन समाज में व्याप्त अध्यात्मानुभूति का ही यह परिणाम था कि धन की विपुलता के मध्य भी काम सन्तुलित रह सका। यह वैदिक धर्म की ही शिक्षा थी कि किसी भी समाज का स्वस्थ जीवन चतुर्पुरुषार्थ के उचित समन्वय में ही निहित है। वैदिक धर्म के प्रभाव-वश ही गुप्त-युग में अतुल अर्थ, कुटिल काम एवं स्वस्थ धर्म संपूर्ण राष्ट्र की मांगलिक पृष्ठ-भूमि में समन्वित हो सके थे। धर्म की प्रेरणा से ही अभिजात वर्ग अर्थ के सदुपयोगी व्यय का उचित मार्ग ढूँढ़ सका था। धर्म-संस्कार के प्राबल्य-वश ही तद्युगीन समाज का अर्थ-पक्ष पाशविक 'काम' की ओर उन्मुख नहीं हो सका। यह धर्म का ही चमत्कार था कि काम का रूपान्तरण ललित कलाओं में संभव हो सका। गुप्तयुगीन सम्पत्ति जिस साहित्य एवं कला के संरक्षण में व्यय की गयी, उस साहित्य एवं कला में अध्यात्म का मर्म पूर्णतः मुखरित हुआ था। गुप्तयुगीन समाज में विलासिता के मध्य भी उच्च नैतिक आदर्श एवं स्वरूप तथा सन्तुलित परम्पराएँ जीवित थीं। तद्युगीन समाज के आदर्श, स्वस्थ एवं शान्त जीवन का रहस्य था धर्मार्थकाम का अद्भुत सामंजस्य।

गुप्तयुगीन विलासमयी आभिजात्य संस्कृति समासतः काम, अर्थ एवं धर्म का आलौकिक मिश्रण थी। अरविन्द ने 'विजन आव् इण्डिया' में लिखा है कि "Never in her history has India seen such a many-sided blossoming of her force of life."

गुप्तयुगीन समाज को यह अमोघ जीवन-शक्ति पुरुषार्थों के आलौकिक एवं अद्भुत सन्तुलन में ही निहित थी। "The material prosperity of the Indians seems to have synchronised with the growth of humanitarianism."[1]

□